पंचम अध्याय

आत्मा एवं मुक्ति तत्त्व

आत्मनिरूपण की परम्परा

बहिर्मुखी इन्द्रियों की अन्तर्मुखी यात्रा का इतिहास ही आत्मनिरूपण का इतिहास है ।[1] अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने से ही आत्मदर्शन होता है ।

आत्मस्वरूप की जिज्ञासा मानव की अनादि इच्छा है । साहित्य व दर्शन इसी प्रयत्न की अभिव्यक्ति है । एक भाव-प्रधान है तो दूसरा चिन्तन प्रधान ।

ऋग्वेद में आत्मा का परिचय देते हुए कहा गया है कि सदा एक साथ रहनेवाले सखा, दो पक्षी जो एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं उनमें एक जीवात्मा उस वृक्ष के फलों का उपभोक्ता है किन्तु दूसरा उसका उपभोग न करता हुआ साक्षी रूप में केवल द्रष्टा है ।[2]

उपनिषदों में अहं ब्रह्मास्मि[3] "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू" अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ और यह आत्मा सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है ।[4] यह पुरुष स्वयं ज्योतिस्वरूप है ।[5] इस प्रकार उपनिषदों में आत्मतत्व को मूल सत्य तथा परमार्थ सत्य रूप में माना गया है । और आत्मज्ञान को जीवन का परम लक्ष्य बताया गया है ।[6]

---

1. डा॰ गोविन्द त्रिगुणायत - हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा व उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ॰ 420
2. ऋग्वेद - 1/164/20
3. बृहदारण्यकोपनिषद् - 14/10
4. बृहदारण्यकोपनिषद् - 2/5/19
5. अयं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति । - वही - 4/3/9
6. आत्मा वा अरे द्रष्टव्य - वही - 2/4/5

गीता में आत्मा को अछेद्य, अकाट्य, अक्लेद्य आदि कह उसे नित्य सनातन माना है ।[1]

वेदान्त के अनुसार एक ही ब्रह्म अविद्योपाधि के कारण अनेकरूपों को ग्रहण करता है । परमार्थत: जीव और ब्रह्म में अभेद है ।

वेदान्तसार में श्रुतियों का उद्धरण देते हुए आत्मा सम्बन्धी नौ विविध मतों का उल्लेख है जिसके अनुसार कुछ ने आत्मा को पुत्र, कुछ ने शरीर, इन्द्रियों, प्राण, मन, प्रज्ञा, आनन्द, अज्ञानोपहित चैतन्य तथा शून्य माना है ।[2]

इन मतों का उल्लेख करते हुए आगे पुत्रादि की आत्मता का खंडन भी श्रुतियों के आधार पर करते हुए आत्मतत्व को प्रत्यक्, सूक्ष्म, अक्षु, अप्राण, अमन, अकर्ता, चैतन्य व चिन्मात्र कहा है ।[3]

इस प्रकार श्रुतियों में आत्मा सम्बन्धी खंडन-मंडनात्मक दोनों ही विचारों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मा के सूक्ष्मतम रूप को समझाने के लिए ही इन स्थूल प्रतीकों का सहारा लिया गया है । वास्तव में श्रुतियों में आध्यात्मिक चिन्तन का क्रमिक विकास दिखाया गया है । साधना के मार्ग में आत्मा की अनुभूति का क्रमिक विकास भी इसी भाँति होता है । पुत्र की अपेक्षा स्थूल शरीर सूक्ष्म है, स्थूल शरीर से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से प्राण, प्राण की अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा बुद्धि, बुद्धि की अपेक्षा अज्ञान, अज्ञान की अपेक्षा अज्ञानोपहित चैतन्य व सबसे सूक्ष्म शून्य ही है ।[4] अत: ये सब आत्मा के वास्तविक रूप नहीं । आत्मा का वास्तविक रूप आनन्द ही है । जिसकी अनुभूति साधक को सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म में मिल जाने पर ही होती है ।

---

1. गीता अध्याय-2 श्लोक-24
2. डा॰ राममूर्ति शर्मा - वेदान्तसार:- पृ॰ 69-75
3. डा॰ राममूर्ति शर्मा - वेदान्तसार:- पृ॰ 76
4. डा॰ राममूर्ति शर्मा - वेदान्तसार:- पृ॰ 76

पुत्रादि को अनात्म सिद्ध करते हुए वेदान्तसार में आत्मतत्व निरूपण में स्पष्ट कहा है – वेदान्तविदों के अनुभव के अनुसार यह अवभासक आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सत्यस्वभाव युक्त, प्रत्यक् अर्थात् आन्तरिक चैतन्य ही आत्मतत्व है ।[1] आत्मा को अवभासक इसलिए कहा है क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाश रूप होने से उसी प्रकार ही अनात्मविषयों का प्रकाशक है जिस प्रकार दीपक इतर वस्तुओं को अपने प्रकाश से अवभासित करता है ।[2]

आचार्य शंकर ने "जीवोब्रह्मैव नापर" कहते हुए [3] जीव और ब्रह्म के भेद को व्यावहारिक तथा अविद्या कल्पित माना है । वह आत्मतत्व नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है । अज्ञान की निवृत्ति होने से आत्मा को स्वयंप्रकाशरूपता की अनुभूति होती है और आत्मा ब्रह्मस्वरूप हो जाती है । यही मोक्षदशा है । वेदान्त में अविद्यानिवृत्ति का फल आत्मबोध या मुक्ति है ।

शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में वैष्णवाचार्यों ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य लिखकर ब्रह्म को निर्गुण न मानकर निकृष्ट गुणों से रहित माना है और जीव और ईश्वर में अंशांशी सम्बन्ध स्थापित किया है ।

सन्त नामदेव और सन्त कबीर का आत्मनिरूपण भी इसी परम्परा के अन्तर्गत हुआ है । दोनों ने ही आत्मविचार को जीवन का लक्ष्य माना है । आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने सन्तों की साधना को वस्तुतः आत्मविचार की साधना कहा है ।[4]

सर्वव्यापी आत्मतत्व

इन दोनों ने आत्मतत्व को सर्वव्यापी माना है । आत्मा का यौगिक अर्थ ही सर्वव्यापी है । जो चैतन्य सर्वव्यापी है वह सीमा में बद्ध नहीं

---

1. अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सत्यस्वभावं प्रत्यक् चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविदनुभवः + एवमध्यारोपः ।
डा॰ राममूर्ति शर्मा – वेदान्तसार – पृ॰ 76
2. – वही – पृ॰ 79
3. ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य
4. कबीर साहित्य की परख – पृ॰ 96

हो सकता अतः जीव कोटि में रहनेवाला चैतन्य आत्मचैतन्य नहीं है अपितु मायोपाधिक है । इसी मायोपाधिक आत्मरूप को जीव कहा गया है । वास्तव में मायालिप्त चैतन्य ही जीव है और मायानिर्लिप्त चैतन्य ही आत्मा कहलाती है । नामदेव और कबीर भी माया आबद्ध आत्मा को जीव मानते हैं ।

"मैं जन जीव ब्रह्म तुम माधो"[1] मायाबद्ध आत्मा को जीव कहते हुए नामदेव सब जीवों की उत्पत्ति का कारण ब्रह्म को मानते हुए उसे ही सब जीवों में व्याप्त देखते हैं । वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मायामोह के कारण ही आत्मा उस घट-घट व्यापक परमात्मा को भूल जाती है ।[2] और यह जीव कर्मबन्धनों से व्याप्त है इसी कारण वह अपने आपको कर्ता समझ बैठता है यह उसका भ्रम है ।[3] वास्तविक रूप में विठ्ठल देव या ब्रह्म ही कर्ता है।[4]

कबीर भी "खालिक खलक, खलक में खालिक"[5] और "सब घट मेरा साइयाँ"[6] तथा "जैसी देखो आत्मा तैसा सालिगराम"[7] कह सर्वत्र एक ही आत्मतत्व के सर्वव्यापी रूप के दर्शन करते हुए कहते हैं कि माया के कारण ही हम उस आत्मतत्व को नहीं पहचानते ।[8]

---

1. डा मिश्र व मौर्य सम्पादित स॰ना॰हि॰प॰ 48
2. जामै सकल जीव की उत्पति । सकल जीव में आप जी ।
   मायामोह जगतु करि भुलाया । घटि घटि व्यापक आप जी ।
   मैं जन जीव ब्रह्म तुम माधो । बिन देखे दुख पाइये ।
   राखि समीप कहै जन नामा । सांगिनकी गुन गाइये ।-वही पद-48
3. जीव का बन्धनु करम बिआपै । जो किछु किआ सो आपे आपै ।
   - वही पद - 223
4. जिउ प्रगासिआ माटी कुम्भेउ । आप ही करता बीठलु देउ ।
   - वही पद - 223
5. कबीर ग्रन्थावली - परिशिष्ट - पद-12
6. - वही - साध साषीभूत को अंग - सा - 18
7. - वही - भ्रम बिधौंसण कौ अंग - सा- 5
8. माया मोह अर्थ देखि करि काहे कूं गरबाना ।
   निरभै भया कछू नहीं व्यापै, कहै कबीर दीवाना । -वही पद -55

कर्मबद्ध आत्मा को जीव से सम्बोधित करते हुए वे प्रश्न करते हुए वे पूछते हैं कि इस जीव को कर्म किसने दिये ? उन कर्मों का दाता इस पंचतत्वों से निर्मित इस काया के भीतर व्यापक है । इसी आत्मतत्व के यथार्थस्वरूप को समझो ।

इसी कारण सन्तों ने उसे आत्माराम और स्वयंभूदेव की उपाधि से विभूषित किया ।

नामदेव स्वयंभूदेव की सेवा को ही जीवन का लक्ष्य बताते हुए उस आत्माराम की पूजा को ही वास्तविक पूजा कहते हैं ।[2] उनके शब्दों में -

आतमराम देह धरि आयो,
तामै हरि को देखो ।[3]

अर्थात देह धारी आत्माराम में ही हरि के दर्शन करो ।

कबीर के पदों में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति इन्हीं शब्दों द्वारा हुई है ।

इस प्रकार की सन्तों की उक्तियों से "अयमात्मा ब्रह्म" की ही पुष्टि होती है । एक ही आत्मतत्व है ।

आत्मा की स्वयं प्रकाशरूपता

उस सर्वव्यापी आत्मतत्व के स्वयं प्रकाशरूप की अनुभूति समानरूपेण नामदेव और कबीर को हुई थी ।

नामदेव उस अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं । वे कहते हैं :-

1. जो कर्मबद्ध तुम जीउ कहत हौ, कर्महि किउ जीउ दीन रे ।
हरि मांहि तनु है तनु महि हरि है, सर्व निरन्तर सोई रे ।
कबीर ग्रन्थावली परिशिष्ट - पद-15
2. स्वयंभूदेव की सेवा जाने तो दिव्यदृष्टी है सकल पिछाने ।
नामदेव भो भैरे यही पूजा, आतमराम अवर नहि दूजा ।
स०ना०हि०प० = पद 20
3. - वही - पद - 227

√

वह अकालपुरुष ब्रह्म ही प्रत्येक प्राणीमात्र के हृदय में छिपा हुआ है अतः उस "जीव की जोति न जाने कोई" इस जीव की ज्योति को विरले अहंकाररहित ही जान सकते है ।[1] वह ज्योति नामदेव की प्रिय थाती है जो बिना दीये व बत्ती के प्रकट हुई है ।[2] और उसी ज्योति द्वारा उन्हें आत्मतत्व के अविनाशी रूप के दर्शन हुए है ।[3] उनकी ब्रह्म-ज्योति के दर्शन का माध्यम भी आत्मज्योति ही है ।[4] अन्य एक पद में नामदेव आत्मतत्व को दीपक की ज्योति कह उसको साकारत्व प्रदान करते हुए स्वीकार करते है कि उनकी आत्मा हरि के रंग में रंग गई है ।[5] और इस आत्मा को हंस कहते हुए मानवमात्र को सावधान करते हैं कि इस देह में से हंस रूपी आत्मा के चले जाने पर वह "छार" या धूल है ।[6] इस प्रकार शरीर की क्षणभंगुरता की अनेक स्थलों पर याद दिलाते हैं ।

- -

1. अकुल पुरुष इकु चलितु उपाइआ ।
   घटि घटि अन्तरि ब्रह्मु लुकाइआ ।
   जीअ की जोति न जाने कोई ।
   तै मै किआ सु मालूमु होई ।
   डा॰ मिश्र व मौर्य सम्पादित स॰ना॰हि॰पृ॰ प॰- 225
2. भगत नामदेव रांमको थाती । प्रगटी जोति जहां दीवाअ न बाती ।
   - वही - पद - 106
3. फिर ताया जोती प्रकासीरे । जहां अपे आप अविनासी रे । वही, पद-170
3. जहां कछु नाहीं तहां कछु देखा । जीधरा लोभाना ।
   आत्म केरे तेज मद्ध । तेज दीपाना ।
   स॰ना॰हि॰प = पद-164
5. हिरदै दीपक घटि उजियाला । फूटि दीआर टूटि गयी ताल
   हिरदै रंग रोग नहीं जाति । रंगि रे नामा हरि की भांति ।
   - वही - पद-36
6. क - हंस कावडि छाडि भाज्यौ । देह है है छार रे । वही, 75
   ख - हंस जायेगा पिंजरा पड़ैगा । - वही, पद-192

सन्त कबीर भी उस आत्मतत्व को शरीर रूपी मन्दिर की ज्योति कह उसे हंस की उपमा देते है । और इस शरीर की नश्वरता को "घर की छोति" कह प्रकट करते है ।[1] कबीर "यह तन काचा कुम्भ है"[2] और मनिषाजन्म दुर्लभ है"[3] इसका स्मरण दिलाते हुए मनुष्य को चेतावनी देते है । उनके "चितावणी को अंग की साखियाँ इस दृष्टि से पठनीय है।"[4] इसके साथ ही वे "सोऽहं हंसा एक समान" कह आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य की पुष्टि भी करते है ।[5]

सन्त साहित्य में आत्मा का प्रतीक "हंस" माना गया है । हंस उज्ज्वलता और शुद्ध स्वरूप का प्रतीक है । अतः आत्मा शुद्ध बुद्ध होने से ही सन्तों ने उसे "हंस" कहा है ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ये दोनों सन्त आत्मा की स्वयंप्रकाशरूपता से पूर्णतया परिचित थे । अतः दोनो की अभिव्यक्ति में पूर्ण साम्य है । आगामी सन्त साहित्य में आत्मा की इस विशेषता का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है । उदाहरणार्थ सन्त सुन्दरदास कहते हैं कि जिस प्रकार दीप अपनी ही ज्योति से प्रकाशित है, हीरा अपने ही तेज से उद्भासित होता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयंप्रकाशरूप है ।[6]

आत्मा की सूक्ष्मता

आत्मा की स्वयंप्रकाशरूपता के साथ सन्त साहित्य में आत्मा को सूक्ष्मातिसूक्ष्म व अलख माना है ।

---

1. मन्दिर मांहि झबूकती दीवा कैसी जोति ।
   हंस बटाउ चलि गया काढौ घर की छोति -कबीर ग्रंथावली-कालकौ अंगला-7
2. श्री श्यामसुन्दरदास सम्पादित क॰ग्रं॰ = चितावणी को अंग-साखी-38,39
3. - वही, सा॰ 34
4. - वही, चितावणी कौ अंग । में 62 साखियाँ
5. - वही, पद 53 पृ॰ 109
6. दीप के तेज से दीपक दीसत,हीरे के तेज हीरो ही भासे ।
   तैसे सुन्दर आतम जानहु, आपके भास आप प्रकासे ।
   सुन्दरविलास पृ॰ 149

कबीर ने "जीव छता जामे मरे सूछिम लखै न कोई" कह आत्मा की सूक्ष्मता की ओर निर्देश किया है ।[1] नामदेव घट-घट व्यापी, अन्तर्यामी कह उसी आत्मा की सूक्ष्मता की पुष्टि ही करते है ।

आत्मा व ब्रह्म का सम्बन्ध

इस सर्वव्यापी, सूक्ष्म, स्वयंप्रकाशरूप, नित्य शुद्ध, बुद्ध आत्मतत्व को दोनों ही कवियों ने ब्रह्म का अंश और जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को जल तरंग व बून्द और समुद्र की भाँति अभिन्न माना है । पर जीव अल्पज्ञ है ब्रह्म सर्वज्ञ, जीव अपूर्ण है तो ब्रह्म पूर्ण ।

"अल्पजीव गति कहा बखाने"[2] कह नामदेव जीव की अल्पज्ञता को बताते हुए जलतरंग की अभिन्नता के सर्वविदित तथ्य द्वारा आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि माया से लिप्त होने से यह जन जीव ऊरा अर्थात् अपूर्ण है और ब्रह्म पूर्ण है ।[3]

- -

1. जीव छता जामै मरे, सूछिम लखै न कोई ।
   कबीर ग्रन्थावली, सूषिम जनम कौ अंग - सा॰ 2

2. स॰ ना॰ हि॰ प॰ - पद- 14

3. क - आपै पुरिषे नारि पुनि आपै आपै नेह सनेहा ।
   वही - पद - 110
   ख - आपुन देऊ देहुरा, आपन आप लगावे पूजा
   जल ते तरंग तरंग ते है जल, कहन सुनन कऊ दूजा
   आपहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तूरा ।
   कहत नामदेऊ तू मेरे ठाकुर, जनु ऊरा तू पूरा
   - वही, पद - 161

4. क - आपै कटोरा आपै थारी, आपै पुरिष आपै नारी
   कहै कबीर हम नारी नाहीं, ना हम जीवत न मूवल -मोही ।
   क. ग्र॰ - पद - 331

कबीर भी नामदेव की भान्ति ही जल तरंग[1] व बुन्द समुद्र[2] की भांति उसे अभिन्नता बताते हुए स्पष्ट शब्दों में "बहु राम को अंसु" कह अंशांशी-भाव की पुष्टि करते है ।[3]

इस प्रकार इन सन्तों को मान्य अंशांशीभाव अद्वैती है जिससे आत्मा और ब्रह्म के अद्वैतता का समर्थन होता है ।

<u>आत्मा व ब्रह्म की अद्वैतता</u>

इस अद्वैतता को दोनों ही कवियों ने प्रतिबिम्बवाद और विवर्तवाद का आश्रय लेकर ध्वनित किया है । वे आत्मा को सर्वव्याप्त मानते है और इस संसार में व्याप्त आत्मा का नाम विश्वात्मा है । आत्मा विश्वात्मा का वह रूप है जो माया द्वारा विश्वात्मा से पृथक कर दिया जाता है । दोनों ही कवियों ने इसे जल और कुम्भ के दृष्टान्त द्वारा समझाया है ।

नामदेव जल व कुम्भ के उदाहरण द्वारा सभी घटों में उस एक ही तत्व को देखने की बात करते हैं । जैसे कुंभ के फूटने पर जल महासागर के जल मे एकरूप हो जाता है वैसे ही शरीर रूपी कुम्भ की सीमा में आबद्ध जीव तत्व भ्रम के नष्ट होते ही परमात्मा में लीन हो जाता है ।[4]

- -

1. क - आपे कटोरा आपे थारी, आपे पुरिष आपे नारी
   कहै कबीर हम नाही रे नाही, ना हम जीवत न मुवले मांही ।
   क. ग्र. - पद 33।
   ख - जल तरंग जिमि जल ते उपजे, फिर जल मांहि रहाई ।
   कबीर वचनावली, पद - 78 पृ. 204
2. बूंद समानी समद मे सो कत हेरी जाई ।
   कबीर ग्र. साखियों अंग - 3
3. गुरुप्रसादि मैं डगरो पाया । जीवन मरन दोउ मिटवाया ।
   कहु कबीर बहु राम की अंसु । जस कागद पर मिटै न मंसु ।
   वही, परिशिष्ट - पद- 126 पृ. 301
4. जल भीतरि कुंभ समानिआ, सभु रामु एक करि जानिआ ।
   गुरु चेले हैं मन मानिआ, जन नामै तत्तु पछानिआ ।
   स. ना. हि. प. - पद 154

कबीर ने भी जलकुम्भवत् संसार में एक ही तत्व के दर्शन किये हैं ।[1] वे अन्य एक पद में कहते हैं कि जल में विविध प्रतिबिम्बों की तरह जग की सकल वस्तुओं में राम को देखो है ।[2] वे पानी व हिम के विवर्तवाद के उदाहरण द्वारा भी उसी अद्वैतवाद को प्रतिपादित करते हैं । कबीर कहते हैं -

जिस प्रकार पानी से ही हिम या बर्फ बनती है और नष्ट होकर वह पुनः पानी के रूप में परिवर्तित हो जाती है उसी प्रकार आत्मा भी ब्रह्म का ही विशेष रूप है, उसी का अंश है । जैसे हिम गलकर पानी के यथार्थरूप में आ जाती है उसी प्रकार ससीम आत्मा यथार्थ रूप को जानकर ही निःसीम ब्रह्म में लय हो जाती है ।[3] इसे ही कबीर ने "जीवहि जीव समाना" भी कहा है ।[4]

कबीर[5] व नामदेव[6] ने पानी और लवण के विलीनीकरण की एकरूपता के द्वारा भी आत्मा और ब्रह्म की अद्वैतता को समझाया है । कबीर ने मन का उन्मन में लय पानी में लवण की भान्ति कहते है तो नामदेव ने ठाकुर व प्राण की अभिन्नता को इसी उदाहरण द्वारा समझाया है ।

- -

1. जल में कुम्भ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी ।
   फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तथ्य कथ्यौ गियानी ।
   क॰ ग्रं॰ - 44
2. ज्यौं जल में प्रतिबिम्ब त्यौं सकल रामहि जानी जै ।
   - वही - विचार कौ अंग - पद - 1
3. जैसे जल तै हेम बनत है, हेम घूम जल होई ।
   तैसे या तत्त वाहू तत सौं, फिर यह अरु वह सोई ।
   श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय सं॰ कबीर वचनावली - पृ॰ 81
4. कबीर ग्रन्थावली - पद- 179
5. मन लागा उन्मन सौं, उनमन मनहि बिलग ।
   लूंण बिलगा पाणियां, पाणियां लूंण बिलग ।।
   कबीर ग्रन्थावली सा॰ 15 पृ॰ 13
6. लूण नीर ते ना है न्यारा, ठाकुर साहब प्राण हमारा ।
   स॰ ना॰ हि॰ प॰ - पद - 14

नामदेव के एक मराठी अभंग में अनेक उदाहरणों द्वारा इसी अद्वैतता को अभिव्यक्त किया है ।[1] यद्यपि मैं शरीर हूं तू आत्मा है और अन्त में 'स्वयें दोन्ही' अर्थात् दोनों तुम स्वयं ही हो, कहकर अद्वैतता का ही समर्थन किया है ।[1]

इसी कारण दोनों कवि भक्त और भगवान् में कोई अन्तर नहीं मानते । वास्तव में जीव की ब्रह्म से अलग कोई सत्ता ही नहीं है । नाम-देव ने इस भाव को :-

"मैं नहीं मै नहीं मैं नही माधो तू है मैं नही हो ।"[2]

कह अभिव्यक्त किया तो कबीर के काव्य में इसी भाव की प्रतिश्रुति इन पंक्तियों में हुई है ।

"कहै कबीर हम नाहीं रे, नाहीं, ना हम जीवत मुवले माहीं ।"[3]

इसी अद्वैत भावना के कारण ही ब्रह्म के बहुत से अभिधान आत्मा के भी अभिधान बन गये हैं ।

आत्मा और प्राण

उपनिषदों तथा आरण्यकों में प्राण शब्द का प्रयोग जीवात्मा के लिए विविध अर्थों में हुआ है । कुछ प्राण को आत्मा मानते थे ।[4] सन्त साहित्य में भी ब्रह्म, आत्मा, जीवन, श्वास आदि विविध अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया गया है । वास्तव में जीव के वायुमूलक रूपान्तर को प्राण कहते हैं । सन्तों ने इसे ही पवन कहा है । पवनसाधना ही प्राण साधना है । सन्तों ने जीव के इस वायुगत रूप की महिमा का गान किया है । डा॰ त्रिगुणायत ने प्राण को

---

1. तू आकाश मी शामिका । तू लिंग मी साळुंका ।
   तू समुद्र मी चंद्रिका । स्वयें दोन्ही ।।
   मी कूर्दा तू आत्मा x स्वयें दोन्ही ।। - नामदेव गाथा-अ॰ 150।
2. स॰ना॰हि॰ पृ॰ - पद -53
3. कबीर ग्रन्थावली - पद - 33।
4. श्री हरियन्ना सम्पादित वेदान्तसार - पृ॰ 7

जीव से विलक्षण तत्व माना है ।[1]

प्राण ही ब्रह्म है । सन्ध्या होम में पंचप्राणाहुति भी तो ब्रह्मोपासना है, प्राणाय स्वाहा: द्वारा उसी ब्रह्म की प्राणशक्ति का आह्वान किया जाता है ।

नामदेव ने "प्राण" और "जीवन" दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया है । वे "जित जित प्राण तित ही तेरी सेवा"[2] कह प्रत्येक जड़जंगम प्राणी की सेवा, मानवसेवा को माधव सेवा मानते हैं । उनके प्राणों का आधार वही विट्ठल है ।[3] अत: वह तद्रूप है । उनकी प्रत्येक सांस में उसी का निवास है[4] वही प्राणाधार है ।[5]

कबीर भी उसे अपना प्राणाधार कहते हुए प्राण शब्द का प्रयोग श्वास या प्राण वायु के अर्थ में करते है -

"प्राणपिंड को तजि चलै, मुआ कहै सब कोई ।[6]

प्राणरहित शरीर को मृत कहा जाता है ।

---

1. डा॰ गोविन्द त्रिगुणायत - हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ॰ 429
2. सन्त नामदेव की हिन्दी पदावली - पद - 126
3. म्हा प्राण तू वीठला - वही - पद - 4
4. नामदेव कहे तू जीवन मोरा । वही - पद - 49
5. तू म्हा प्रान अधार - वही - पद - 51
6. कबीर ग्रन्थावली - सुमिरन जनम को अंग - सा- 1

आत्मा और मन

इसी प्रसंग में हमें आत्मा और मन सम्बन्धी विचार कर लेना उचित होगा । सन्तो ने मन की विशद विवेचना की है । शास्त्रीय दृष्टि से मन मानवशरीर का सूक्ष्म अंश है ।

"मन्यते अनेन इति मन:"

मननशक्ति का दूसरा नाम मन है । इसी के द्वारा संकल्प विकल्प होता है ।

योगशास्त्र में मन को चित्त कहा गया है । बौद्ध और जैन धर्म शास्त्रों में मन को षष्ट इन्द्रिय की उपाधि दी गई है ।

उपनिषदो में कथित अन्न ब्रह्म, प्राण ब्रह्म, मन ब्रह्म, विज्ञान ब्रह्म और आनन्द ब्रह्म के आधार पर ही वेदान्त ग्रन्थों में अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश व आनन्दमय कोशों की कल्पना की गई ।

वास्तव में मन ही मानशरीरस्थ महान् सर्जना शक्ति है और आत्मा के बन्धन व मोक्ष का कारण है ।[1] और उपनिषदों में उसे लगाम कहा गया है । क्योंकि इन्द्रियों का नियन्ता मन ही है ।[2]

सन्तों को मन के दो रूप मान्य प्रतीत होते हैं ।

1• मन - मायासक्त या अहंकारी मन । 2• उन्मन - अनासक्त या उन्मुक्त मन ।

मायासक्त या विषयासक्त मन द्वारा ही जीव संसारबद्ध है । यह अहंकारयुक्त है, चंचल है अतः सभी भक्त, सन्त, उपदेशकों ने मनोनिग्रह पर बल दिया है । इसी आसक्त मन को जीव कहा जाता है ।

1• मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो - पंचदशी - 68

2• आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं तु रथमेव ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च । कठोपनिषद - 1/3/3

उन्मन अर्थात् उन्मुक्त मन, आसक्तियों से ऊपर उठा हुआ मुक्त मन ही शुद्ध स्वरूप है, यही आत्मा है । उन्मुक्त मन ही आत्मबोध होने पर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है । मन का यही रूप उपनिषदों का "मन ब्रह्म" है । मन की उन्मुक्त अवस्था ही योगियों की "उन्मनी" या मनोन्मनी अवस्था है ।

यह आसक्त चैतन्य सीमित है और अनासक्त चैतन्य आत्मा विराट् है ।

नामदेव और कबीर के पदों में मन के उपरोक्त इन दोनों रूपों की सुन्दर, मौलिक व स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है । नामदेव ने दोनों के लिए "मन" शब्द का ही प्रयोग किया है ।

नामदेव के हिन्दी पदों में "उन्मन" शब्द का स्पष्ट निर्देश न होते हुए भी "देवा यह गुडी सहज उडी । गगन मौहि समाई" द्वारा वे उन्मुक्त मन का ही वर्णन इस प्रकार करते हैं । यहाँ उस शब्द का प्रयोग न होने पर भी स्थिति का निर्देश ही उनकी धारणा का परिचय देता है ।

हे देव । आज आत्मा रूपी पतंग उड़कर गगन अर्थात् विराट् ब्रह्म में समा गई यह मन उस अनन्त गगन के साथ एक हो गया, विराट हो गया । उन्हें अब पूर्ण विश्वास हो गया है कि वे पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो गये हैं । द्वादश तत्वों से निर्मित इस शरीर के भीतर गुरुकृपा बल से ही मन को उस तत्व के दर्शन हुए हैं । यह तत्व वस्तुतः उन्मुक्त मन ही है, चंचल मन नहीं । वे आगे कहते हैं कि अब शरीर रूपी कागज से रहित यह आत्मा रूपी पतंग अनन्त बन गई है । इस स्थिति में सहजानन्द का अनुभव करती हुई यह आत्मा जलमेघ बूंद की भाँति तद्रूप हो गई है ।[1]

---

1. देवा आज गुडी सहज उडी । गगन मौहि समाई ।
   बोलनहारा डोरि समाना । नहीं आवै नहीं जाई ।
   द्वादस तै उपजी गुडी । जानै जन कोई ।
   मनसा को दरस परस । गुरु ते गम होई ।
   कागद ते रहित गुडी । सहज आनन्द होई ।
   नामदेव जल मेघ बूंद । मिलि रह्या ज्यूं सोई ।।
   डा० मिश्र व मौर्य सं० सं०ना०हि०प० = पद-77

अन्य एक पद में नामदेव इसी मन को नचाकर परमपद पाना चाहते हैं । वे कहते हैं कि ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र, रवि सभी उस ब्रह्म राम के संकेतों पर नृत्य करते हैं । काल, विकाल तथा अकाल सभी उसके आधीन है । तैंतीस कोटि देवता व भक्त शिरोमणि भी उसकी करबद्ध हो उसकी आज्ञा मानते हैं । अतः उसी मन को नचाकर ही वे परमपद पाने में विश्वास रखते है ।[1] चंचल मन में राम को बिठाने से वह उन्मुक्त हो जाता है ।

अन्य एक पद में नामदेव मन को पंछी कहते हुए उसे सावधान करते है कि शरीर रूपी पिंजरे में बद्ध पक्षी तू मुक्त नहीं । अतः शरीर की इन आसक्तियों को स्पर्श मत कर । यह संसार माया जाल है । इस पिंजरे से अपने को मुक्त कर । यहाँ मन से उनका तात्पर्य उन्मुक्त मन से है । क्योंकि इस संसार के मायाजाल से यही मन मुक्त करता है ।[2] मन के निराकारी होने पर ही आत्मस्वरूप की प्रतीति होती है । नामदेव को "गगन में बैठी गुड़ी" के दर्शन भी अहंकार की समाप्ति पर ही हुए ।[3]

नामदेव की तुलना में कबीर ने इस मन को "उन्मन" शब्द के द्वारा व्यक्त किया । यही उनकी मौलिकता मानी जा सकती है । यद्यपि यह भी परम्परागत शब्द है । वे उस अनासक्त मन को "उन्मन" की उपाधि देते हुए कहते हैं कि मन उन्मन हो गगन में पहुँच गया है । जहाँ उन्हें अलख निरंजन के दर्शन हुए ।[4]

---

1. नाचि रे मन राम के आगे । ग्यान विचारि जोग वैरागे ।।
   नाचे ब्रह्मा नाचे इन्द्र । सहस कला नाचे रवि चन्द ।।
   राम के आगे संकर नाचे । नारद नाचे दोइ कर जोडि ।।
   सुर नाचे तैतीसू कोडि । भगत नामदेव मन हि नचाऊ ।
   मन के नचाये परमपद पाऊ - वहि - पद--
   डा० मिश्र व मौर्य सं० - स॰ना॰हि॰प = पद - 137
2. रे मन पंछीया न परिसि पिंजरे । संसार माया जाल रे -
   स॰ना॰हि॰ पद - पद - 75
3. देखा गगन गुडी बैठी, मैं नाही तब दीठी । - वही - पद-66
4. मन लागा उन्मन सों, गगन पहुँचा जाइ ।
   देख्या चन्द बिहूणा चाँदिणा, तहाँ अलख निरंजन राइ ।
   कबीर ग्रन्थावली - परचा कौ अंग - सा॰ 15

यह मन जब उन्मन हो जाता है तो पानी में नमक या नमक में पानी के लय की भाँति मन का उन्मन में लय हो जाता है, आत्मा और परमात्मा तद्रूप हो जाते हैं ।[1] यहाँ उन्मन को ब्रह्म के पर्यायवाची शब्द की भाँति प्रयुक्त किया है । उन्मनी अवस्था ही तो ब्राह्मी अवस्था है । इसलिए मन ही उन्मन हो गया ।

आगे कबीर उस मन के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि जो मन पानी से भी पतला, धुएँ से भी अधिक झीना, पवन से भी अधिक वेगवान है उसे मैंने अपना मित्र बना लिया है ।[2] क्योंकि कबीर की स्पष्ट धारणा है कि मन को देने से उन्मन को पाया जा सकता है । मन और उन्मन उस सृष्टि के समान है । जिसके आकाश में अग्नि अर्थात् ज्योतिस्वरूप ब्रह्म के दर्शन होते है ।[3] कबीर भी मन को पंछी की उपमा देते हुए कहते हैं कि मेरा मन रूपी पक्षी आकाश में अर्थात् विराट् के समीप पहुँच गया था । वहाँ से च्युत होने पर वह "मन माया के पास" ही पड़ा ।[4]

इस प्रकार अनेक साखियों व पदों में व्यक्त उनके विचारों से उनकी उन्मन सम्बन्धी धारणा स्पष्ट होती है कि उन्होंने उन्मन का प्रयोग ब्रह्म व आत्मा दोनों ही अर्थों में किया है । उनके तत्सम्बन्धी विचार "मन को अंग" में संकलित साखियों द्वारा ज्ञातव्य है ।

---

1. मन लागा उन्मन सौं, उन्मन मनहि विलग ।
   लूंण विलग पाँणियाँ, पाँणी लूंण विलग ।।
   क॰ ग्रं॰ – परचा कौ अंग – सा॰ 16
2. पाणी ही तैं पातला, धूँवा ही तै झीण ।
   पवनां वेगि उतावला, सो दोस्त कबीरै कीन्ह ।।
   वही , मन कौ अंग – सा॰ 12
3. मन दीया मन पाइए, मन बिन मन नहीं होइ ।
   मन उन्मन उस अंड ज्यूं, अनल अकासाँ जोइ ।।
   कबीर ग्रन्थावली – मन कौ अंग – सा॰ 9
4. कबीर मन पंषी भया, बहुतक चढ्या अकास ।
   उहाँ हीं तै गिरि पड्या, मन माया के पास ।
   वही, साखी – 25

दोनों ही कवियों ने अहंकारी मन का विस्तृत उल्लेख किया है जिस पर माया के प्रसंग में विचार किया जायेगा ।

आगामी सन्त साहित्य में, विशेषतः सिक्ख गुरुओं ने मन के इन दो रूपों का विशद विवेचन किया है । वे "उन्मन" को ज्योतिर्मय मन कहते हैं ।[1]

आत्मा और सुरति

सन्तों ने आत्मा के लिए जीव, प्राण, उन्मन के अतिरिक्त "सुरति" शब्द का भी प्रयोग किया है ।

सन्तों से पूर्व नाथ साहित्य में सुरति-निरति का प्रयोग मिलता है ।[2] उन्होंने सुरति का अर्थ चित्तवृत्ति और निरति को निरालम्ब का द्योतक माना है ।

इसके मूल अर्थ के निर्धारण में विचारकों ने विविध मत प्रस्तुत किये हैं ।

डा॰ बड़थ्वाल ने सुरति का अर्थ जीव और निरति को नृत्य का सद्-भाव रूप मानते हुए तन्मयावस्था कहा है ।[3] डा॰ शिवकुमार शर्मा ने सुरति को व्यष्टि शक्ति और निरति को समष्टि-शक्ति कहा है ।[4] डा॰ त्रिगुणायत ने प्राप्त व प्राप्तव्य आत्मा माना है ।[5] तथा वे सुरति को जीव का शब्दगत रूप मानने के पक्ष में हैं ।[6]

- -

1. मन तू ज्योतिस्वरूप है आपणा मूलु पछाणु ।
   श्री गुरु ग्रन्थसाहिब - आसा महला 3 पृ॰ 441
2. सुरति निरति मैं नूंपे रहै, ऐसा विचार मछीन्द्र कहै ।
   गोरखबानी - पृ॰ 196, 82
3. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय - पृ॰ 379-80
4. भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में योग भावना - पृ॰ 286
5. कबीर की विचार धारा - पृ॰ 315
6. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा व दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ॰ 431

नामदेव के पदों में सुरति का चार-पांच स्थलों पर उल्लेख है । पर कबीर के काव्य में इन शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर प्राप्य है । नामदेव की सुरति सम्बन्धी धारणा अत्यन्त स्पष्ट है । वे आत्मा को सुरति और ब्रह्म को सूत्रधारी कह अद्वैत की पुष्टि करते हैं ।[1] वों अन्य एक पद में सुरति को ही सारतत्व कहते हुए संसार की झूठी बाजी का वर्णन करते हैं । सुरति के हाथों में ही मनुष्य जन्म का पासा है अत: जीत और हार भी सुरति अर्थात् आत्मा के अधीन है । इस संसार रूपी सागर को सुरति निरति का बेडा बांधकर ही पार किया जा सकता है । आत्मा और ब्रह्म की अभेदता सूचित है ।[2] अत: नामदेव सुरति अर्थात् आत्मा रूपी सूई में प्रेम का धागा पिरोकर हरि में अनुरक्त हो गये है । अनुराग की धागे में ही समस्त संसार वेष्ठित है ।[3]

कबीर की सुरति-निरति सम्बन्धी धारणा के परिचयार्थ प्राय: निम्न साखियां उद्धृत की जाती है । सुरति समानी निरति में, निरति भई निरधार ।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यंभु दार ।[4]

तथा एक अन्य पद में —

सुरति समाणी निरत में, अजपा मांहे आप ।
लेख समाणा अलेख में यूं आपा मांहे आप ।[5]

इन साखियों के आधार पर विद्वानों ने सुरति निरति के विभिन्न अर्थ लगाए हैं पर कबीर साहित्य का इस दृष्टि से अध्ययन करने पर यहां सुरति आत्मा व निरति को ब्रह्म का ही सूचक कहा जा सकता है । यही अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है है

---

1. आपै सुरति आपै सूत्रधारी – स॰ना॰हि॰प॰ = पद-40
2. संसार सागर झूठी बाजी । सुरति कीन्ही सारि ।
   मनिष जन्म का हाथि पासा । जीति भावे हारि ।
   संसार सागर विषम तिरणी । निपट ऊंडी धार ।
   सुरति निरति का बांधे बेरा । उतरिये ले पार । – वही – पद-166
3. सुरति की सूई प्रेम का धागा, नामा का मन हरि सूं लागा ।
   स॰ना॰हि॰प॰ = पद-18
4. कबीर ग्रन्थावली – परचा कौ अंग – दोहा-22
5. – वही – सा॰ 23

सुरति को आत्मवाची इसलिए मानते हैं क्योंकि आत्मा में ही सुन्दर, निश्छल, अकलुष रति का निवास होता है । "रसो वै स " वास्तव में ब्रह्म ही रसस्वरूप है । संसार में पूर्णतया रत जीव होता है आत्मा नहीं ।

निरति अर्थात् निःशेष या अनन्त रति ब्रह्म है । वह ब्रह्म की पूर्ण रति है, अतः सुरति ही पूर्ण रति का स्वरूप प्राप्त करने के योग्य होती है । इस व्युत्पत्ति से कबीर के दोहे का अर्थ यही होगा कि जब सुरति आत्मा की निरति ब्रह्म में समा जाती है तब इस स्थिति में निरति ब्रह्म ही निर्धारक तत्व रह जाता है, क्योंकि वही आत्मा के स्वरूप का निर्धारण करता है । तभी आत्मा ब्रह्म स्वरूप हो जाती है । यहाँ "निरधार" शब्द का अर्थ निराधार नहीं अपितु निर्धारक है वही निर्धारक तत्व ब्रह्म है जिसे कबीर ने निरति कहा है ।

उसी निर्धारक तत्व निरति को नामदेव ने "सूत्रधारी" कहा है । "आपे सुरति" कह आत्मा व ब्रह्म की एकता और अद्वैतता को प्रतिपादित करते हुए उसे ब्रह्म के समान पवित्र माना है क्योंकि सुरति या आत्मा की निश्छल, अकलुष व अहेतुक होती है । जीव की रति तो हेतुक व वासनापूर्ण, स्वार्थपूर्ण कुरति है ऐसी स्थिति में जीव निरति से परिचित नहीं हो सकता । जीव पहले आत्मस्वरूप बनता है * तत्पश्चात् ब्रह्मस्वरूप । निश्छल रति से ही जीव आत्मस्वरूप बनकर ही ब्रह्मस्वरूप में तदाकार हो जाता है ।

अकलुष अनुराग के अर्थ में सुरति ब्रह्म व आत्मा दोनों माने जा सकते हैं क्योंकि प्रेमरूप भगवान् ही है । शिवानुराग परमात्मानुराग यही संसार के अर्थ में विराग है और यही निरति है । कबीर ने एक स्थल पर "साहब सुरति स्वरूप" लिखकर सुरति को परमात्म रूप में व्यंजित किया है ।[1] सन्त कबीर और समस्त साहित्य में "सुरति" और "निरति" शब्द का बहुत

---

1. कबीर ग्रन्थावली - वचनावली - कर्ता निर्णय - सा. ५ पृ. ९५.

व्यापक अर्थों में प्रयोग हुआ है । इसमें सन्तों की मौलिकता का परिचय मिलता है । नाथपन्थी परम्परा के अनुसार "सुरति" एवं "शब्द सुरति योग" साधना तत्त्व भी बन गया क्योंकि अनेक स्थलों पर सन्तों ने शब्द के साथ सुरति का संयोग कराया है । इसके अतिरिक्त सन्तों ने सुरति-निरति को कहीं नादबिन्दु का प्रतीक,[1] कहीं चित्तवृत्ति कहीं सुषुम्ना, कुण्डलिनी, ध्यान एवं जीव के रूप में भी प्रस्तुत किया है ।[2]

इस प्रकार "सुरति" और "निरति" शब्द दोनों ही कवियों द्वारा आत्मा व ब्रह्म के अर्थ में प्रयोग किया गया है । नामदेव के "आपे सुरति आपे सूत्रधारी" और कबीर के "यूं आपा मांहे आप" पंक्तियों द्वारा विशुद्ध अद्वैत का समर्थन होता है । और उनकी अद्वैती दार्शनिक विचारधारा की पुष्टि भी होती है ।

निष्कर्ष

इस विवेचन के सार रूप में सन्त नामदेव और कबीर की आत्मा सम्बन्धी धारणा सैद्धान्तिक रूप से अद्वैती ही कही जा सकती है ।

दोनों ने उपनिषद्, गीता तथा वेदान्त के परम्परागत विचारों की पुष्टि की है अतः दोनों में परम्परागत साम्य है ।

दोनों ने आत्मा व परमात्मा में अद्वैतीभाव स्वीकार किया है, यह भेदाभेदी न होकर पूर्णरूपेण अद्वैती है । अतः आत्मा व ब्रह्म की एकता व अद्वैतता में दोनों पूर्ण विश्वास करते हैं ।

---

1. सुरति निरति के मेला होई । नाद बिन्दु एक समसोई
   भीखा साहब की बानी - पृ० 24 सा० 7
2. डा० गो० त्रिगुणायत - हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और दार्शनिक पृष्ठभूमि - परिशिष्ट - 710-714 दृष्टव्य -

ये दोनों आत्मा को जीव, मन, प्राण, बुद्धि, देह से विलक्षण तत्व मानते हैं और दार्शनिक दृष्टि से उसके शास्त्रीय स्वरूप से पूर्णतया परिचित थे। यद्यपि उनका विवेचन अनुभूति पर आधारित है।

नामदेव की तुलना में कबीर ने पारिभाषिक शब्दों का अधिक प्रयोग किया है यथा "उन्मन" शब्द का प्रयोग।

मुक्ति

जीव का अखंड ब्रह्मभाव को प्राप्त करना ही मुक्ति है या अखंड ब्रह्मनिष्ठता ही मुक्ति है।[1] आत्मा की अपूर्णावस्था से पूर्णावस्था ही मुक्ति है इसे आत्मा का मुक्तस्वभाव भी कहा जा सकता है। इन सन्तों द्वारा प्रयुक्त मोक्ष, निरभैपद, अभयपद, निर्वाण पद, परमपद, आदि शब्द भी मुक्ति बोधक हैं।

दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म, आत्मा व मोक्ष अधिष्ठान तत्व माने गये हैं। षड्दर्शनों में मुक्ति के स्वरूप की विशद विवेचना हुई है।

न्यायदर्शन में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का नाम अपवर्ग है।[2] योग दर्शन में केवल्य शब्द द्वारा मुक्ति का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए पतंजलि ने पुरुष के भोग तथा अपवर्ग दिलाने के कार्य से निवृत्त होकर मन और बुद्धि का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही केवल्य माना है अथवा चेतनशक्ति का अपने कारण में लीन हो जाना ही केवल्य है।[3] वैशेषिक दर्शन के आचार्य महर्षि कणाद ने "उसके अभाव में संयोग का अभाव तथा पुनः उत्पन्न न होना ही मोक्ष कहा है।[4] सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष की प्रकृति से अलग स्थिति

---

1. ब्रह्मैव हि मुक्तस्यवस्था।
   ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य 3/3/32
2. न्यायसूत्र - 1/1/22
3. a पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः केवल्यस्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति - योगसूत्र - 4/34
   b. तदभावात्संयोगाभावोहानं तद्दृशेः केवल्यम। योगसूत्र 2/25
4. तदभावे संयोगाभावो प्रादुर्भावश्च मोक्षः। वैशेषिक दर्शन 5/2/18

अपवर्ग है ।[1] और मीमांसकों की दृष्टि में इस जगत के साथ आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष है ।[2]

सन्तों द्वारा प्रयुक्त निर्वाण शब्द का सामान्य अर्थ बुझ जाना है । इस अवस्था में जीव की वासनाएं बुझ जाती है, नष्ट हो जाती है अतः बौद्ध दर्शन में निर्वाण शब्द मुक्ति का बोधक है ।

वेदान्त में मोक्ष की धारणा अधिक व्यापक व स्पष्ट है । शंकराचार्य ने मुक्ति को पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाशवत् सर्वव्यापी, विकृतिरहित, नित्यानन्दस्वरूप, अवयवरहित स्वयंप्रकाश स्वभाव वाला कहा है । मुक्ति की इस स्थिति में धर्म और अधर्म अपने कार्य सुख-दुःख से त्रिकाल में सम्बन्ध नहीं रखते । इस प्रकार वेदान्त में मुक्त विशुद्ध आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप है ।[3]

मुक्ति के भेद

वेदान्त के अनुसार मुक्ति के स्थितिगत दो भेद कहे गये हैं ।

1. जीवन्मुक्ति 2. विदेहमुक्ति । जीवन्मुक्ति वेदान्त दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है । जीवन्मुक्ति सशरीर प्राणी की इसी संसार में मुक्ति का नाम है । और जब प्राणी के प्रारब्ध कर्मों के भोग का क्षय होने पर उसके शरीर का पात हो जाता है तो इस स्थिति को विदेह मुक्ति कहते हैं ।[4]

भक्तिमार्गियों के अनुसार मुक्ति के चार भेद है ।

1. सलोकता 2. समीपता 3. सरूपता व 4. सायुज्यता ।

---

1. द्वयोरेकस्य वा औदासीन्यमपवर्गः - सा.प्र. भाग- 3/74
2. प्रपंचबंध विलयो मोक्षः। शास्त्रदीपिका - पृ. 357
3. श्री राममूर्ति शर्मा - वेदान्तसार : भूमिका - पृ. ॥ xxxIII ॥
4. श्री राममूर्ति शर्मा - वेदान्तसार : पृ. 132

भक्ति सम्प्रदाय में एकदम मुक्ति नहीं मिलती । इसलिए भक्ति में भक्त को इन चार अवस्थाओं में गुज़रना पड़ता है ।

सलोकता का अर्थ उपास्य लोक में निवास ही है । उपास्य के समीप रहना समीपता और नारायण स्वरूप हो जाना ही सरूपता और उपास्य और उपासक का एक या अद्वैत हो जाना ही सायुज्यता है । सायुज्यता में आत्मज्योति ब्रह्म ज्योति में मिल जाती है ।

सन्त नामदेव और सन्त कबीर मूलत: भक्त कवि थे । उनकी साहित्य साधना का लक्ष्य दार्शनिक तत्वों का विवेचन करना नहीं था । अत: भक्ति के प्रतिपादनार्थ दार्शनिक तत्वनिरूपण अनायास ही हुआ है । उनकी मोक्ष सम्बन्धी धारणा वेदान्त से अधिक प्रभावित प्रतीत होती है । इनकी रचनाओं में जीवन्मुक्त साधक का सुन्दर व स्पष्ट चित्रण हुआ है ।

जीवन्मुक्ति

नामदेव के अनुसार सेवक और स्वामी का साथ ही सामीप्य मुक्ति है ।[1] ज्योतिस्वरूप ब्रह्म के दर्शनकर आत्मा ने जिस अमरपद को प्राप्त किया है उस तत्व के दर्शनमात्र से ही उन्हें जीवन्मुक्ति मिली ।[2] आत्मा की निर्मलता से ही निर्वाणपद को पाया जा सकता है ।[3] और उनके मत में हरिनाम ही एक मात्र निर्वाणपद है ।[4]

---

1. मुक्ति भयेला जाप जपेला । सेवक स्वामी संग रहेला ।।
   डा॰ मिश्र व मौर्य सं॰ ना॰ हि॰ प॰ = पृ- 45
2. दीपक पषै तेल बिन बाती । जोतिसरूप बलै दिन राती ।।
   भगत नामदेव अमरपद परस्या । पिंड भया मुकति तया तत दरस्या ।।
   वही, पृ- 107
3. आतम जउ निरमाइलु कीजै । निरमल निरवाण पद चीनि लीजै ।
   वही, पद - 159
4. निरवाणु पद इहु हरि को नाम ।
   वही, पद - 212

कबीर भी हरिनाम के बिना मुक्ति नहीं[1] कहते हुए राम नाम को ही जीवन्मुक्त की खरी कसौटी मानते हैं । जो इस कसौटी पर टिक जाता है वही जीवन्मुक्त है क्योंकि जीवन में ही ऐसा भक्त या ऐसी मुक्तात्मा संसार में निःस्पृह होकर जीवन व्यतीत करता है वह सांसारिक दृष्टि से मृतक के समान है । सांसारिक आसक्तियों से रहित व मुक्त व्यक्ति ही जीवित है और जो आसक्त है, आबद्ध है वे मृतवत् हैं । कबीर के काव्य में "जीवन्मृतक को अंग" में जीवन्मुक्त साधक का वर्णन हुआ ।[2]

जीवन्मुक्त ही सन्त कहलाते हैं वे निर्वैर, निष्काम, निर्विषय और निःसंग होते हैं ।[3]

ऐसी मुक्तात्मायें संसार में निष्काम भाव से रहते हुए प्रवृत्ति में निवृत्ति का सिद्धान्त अपनाती है । जीवन्मुक्त भक्त, साधक अद्वैत ब्रह्म की निष्ठा से सम्पन्न होकर भी कर्म भोग से लिप्त नहीं होता, कर्म से विरक्त नहीं होता । वह कर्म तो अवश्य करता है पर भोग दृष्टि से नहीं, यही गीता का कर्मयोग है । "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"[4] इस तरह जीवन्मुक्त कर्मयोगी संकल्पवान्, अव्यक्त ब्रह्म में रत, विकार से शून्य व निर्मल होकर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, अद्वैतावस्था को पहुंच जाता है ।[5] जीवितावस्था में ही उन्हें मुक्ति प्राप्त हो जाती है । गीता

- -

1. मुकति नहीं हरि नाँव बिन, यौं कहै दास कबीर ।।
   कबीर ग्रं० = चाणक को अंग सा० - 19

2. खरी कसौटी राम की खोटा टिकै न कोइ ।
   राम कसौटी सो टिकै, जो जीवत मृतक होइ ।
   क० ग्रं० - जीवत मृतक कौ अंग - सा० 9

3. निरवैरी निहकामता साँई सेती नेह ।
   विषिया सूं न्यारा रहै, सन्तनि का अंग एह ।
   - वही, साध साषीभूत को अंग - सा० ।

4. गीता - अध्याय-2 श्लोक - 47

5. मैमंता अविगत रता, अकलप आसा जीति ।
   राम अमलि माता रहै, जीवत मुकति अतीति ।
   कबीर ग्रन्थावली, रस को अंग सा० 6

में जीवन्मुक्त साधक को ही स्थितप्रज्ञ कहा है । इस असीम ब्रह्मानन्द की अनुभूति को दोनों ही कवियों ने सहज समाधि, उन्मनी अवस्था, शून्य समाधि, द्वारा व्यक्त किया है । सद्गुरु की कृपा से सांसारिक निवृत्ति होने के बाद उन्हें इस "निरभैपद" की प्राप्ति हुई है ।[1]

वास्तव में अद्वैतानुभूति से द्वैत का निरास हो आत्मा को जिस मुक्त स्वभाव की प्राप्ति होती है वही जीवन्मुक्ति है ।

<u>विदेह मुक्ति</u>

ब्रह्मज्ञान होने से इन साधकों को जीवन्मुक्ति स्वयमेव उपलब्ध हो गई थी पर "ज्ञानादेवतु कैवल्यम्" ज्ञान से प्राप्य केवल परब्रह्मरूप होकर रहनेवाली कैवल्यमुक्ति या विदेहमुक्ति के वे आकांक्षी नहीं थे, उन्हें भक्ति की अभिलाषा थी । वे इस आनन्दमयी अवस्था में कीर्तन, भजन करते हुए मुक्ति के साथ भक्ति के इच्छुक थे ।

नामदेव भक्ति को मुक्ति से प्रधान मानते हुए जीवन के चार लक्ष्य - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की अपेक्षा - प्रेमभक्ति की याचना करते हैं ।[2] क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, भक्त के लिए कोई आकर्षण नहीं रखते । भावभक्ति के होने पर फल का विचार उन्हें नहीं, वे केवल हृदय में ब्रह्म की लौ लगी रहने की इच्छा प्रकट करते हैं । वहाँ बेचारी मुक्ति क्या करेगी ।[3] उन्हें पूर्ण विश्वास है कि राम नाम कहने से सभी को मुक्ति मिलती है ।[4]

---

1. एक एक सूं मिलि रह्या तिन ही सचु पाया ।
   प्रेम मगन लैलीन मन सो बहुरि न आया ।।
   कहै कबीर निहचल भया, निरभैपद पाया ।
   संसा ता दिन का गया, सतगुरु समझाया ।। - कबीर ग्रं॰ पद-188
2. अर्थ, धर्म, काम की कहा मोषि मांगै ।
   दास नामदेव प्रेमभगति अन्तरि जौ जागै ।
   डा॰ मिश्र व मौर्य - स॰ना॰वि॰ प॰ - प- 3
3. केवल ब्रह्म निकटि ल्यौ लागी । मुकति कहा बपुरी । - वही - पद-6
4. राम कहत जन को न मुकति जाई । वही, पद-28

अतः वे योग, युक्ति, मुक्ति किसी की याचना नहीं करते, केवल हृदय में हरिनाम हो ।[1] अतः वे बाकुल भगवान से भक्ति की माँग करते हैं ।[2] वे विदेहमुक्ति नहीं चाहते वे अन्य एक पद में विठ्ठल को भक्ति न देने पर प्राण त्याग की धमकी देते हैं । उनके लिए भक्ति की तुलनामें चार मुक्तियाँ व आठ सिद्धियाँ भी तुच्छ है अतः नामदेव ने भक्ति की प्राप्ति पर सर्व मुक्ति को त्याग दिया ।[3] शरीर समाप्ति के पश्चात जिस वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है उस मुक्ति पर उन्हें विश्वास नहीं, अतः वे जीते हुए भक्ति चाहते हैं मुक्ति नहीं ।[4] यह जीवन्मुक्ति और कुछ नहीं भक्ति ही है । यहाँ "जीवत मुकति" से उनका अभिप्राय स्पष्ट ही विदेहमुक्ति से है । अन्य एक पद में वे प्राण जाने पर प्राप्य मुक्ति किसी को दिखाई नहीं देती, वह उसे व्यर्थ समझते हैं ।[5] अतः भक्तिमुक्ति के दाता से भक्तिदान की याचना करते हैं ।[6] क्योंकि उन्हें पूर्ण विश्वास है कि हरि की शरण में जाने से उनका गुणगान करने से उन्हें भवसागर से मुक्ति मिलेगी ।[7]

---

1. जोग, जुगती कछु मुकति न भाखूं ।
   हरि नाँव हरि नाँव हिरदे राखूं ।। – वही, पद – 37
2. भगति आपि मोरे बाकुला, तेरी मुक्ति न माँगू हरि वीठुला ।
   डा. मिश्र व मोर्य सम्पादित स. ना. हि. प. – प. 49
3. सन्त प्रेमी भक्ति आपिला, नहीं आपिला तो प्राण त्यागिला ।
   हमची धाती तुम बसि भईला । अन्यथा जीवना किमही लागिला ।
   च्यारि मुक्ति आठू सिधि आपुच्या । भगति न आपो दास नामईया ।
   नामदेव विठ्ठल सन्मुख बोलीला । भगति आपिला मुकति त्यागिला ।
   वही – पद – 69
4. सो वैकुंठ कहो धौ कैसो । पैंड परे जहाँ जाइये ।
   यहु परतीति मोहि नहि आवै । जीवत मुकति न पाइये । – वही–48
5. प्राण गये जे मुकति होत है, सो तो मुकति न दीसै काई हो । वही– पद–131
6. भक्तिदान दे साहिब मोरा । वही – पद – 146
7. नामदेव कहै मै हरि गुण गाउँ ।
   मोषल माँहि बहोरि नहीं आउँ ।।
   स. ना. हि. प. – पद–176

नामदेव के मराठी अभंगों में इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है । नाम के प्रताप से वे जीवन्मुक्त हो गये ।[1] पर अब उन्हें विदेहमुक्ति नहीं चाहिए ।[2] अतः भक्ति द्वारा ही मुक्ति की सिद्धि में इन की अटूट आस्था है ।

कबीर भी नामदेव के शब्दों की पुनरावृत्ति सी करते हुए प्रतीत होते है । उनकी भी विदेहमुक्ति में आस्था नहीं है । वे कहते हैं शरीर की ही मुक्ति को लेने से क्या लाभ यदि मुक्ति स्वरूप परमपद की प्राप्ति न हुई अर्थात् जीवन्मुक्ति को ही वे पाना चाहते है ।[3] कबीर विचारपूर्वक कहते हैं कि वह ईश्वर ही परमपद है । वही निर्वाण पद है । इसी सत्य को समझो व उस परमपद की प्राप्ति सत्याचरण और भक्ति से ही संभव है ।[4] कबीर भी अपने राम से व्यंगात्मक ढंग से पूछते हैं कि हे राम । भला हमें तारकर कहाँ भेजोगे । उस तुम्हारे वैकुण्ठ का कैसा रूप है जो मुझे तारने के बाद अपनी कृपास्वरूप मे दोगे ? वे आगे अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब तुम इस समस्त सृष्टि में अद्वैतभाव से रमे हुए हो तो मुझे क्यों भ्रम में डाल रहे हो । यदि मुझे अपने से पृथक समझते हो तो उसी हालत में तुम मुझे मुक्त बना सकते हो ।[5] इस प्रकार कबीर की दृष्टि में मुक्ति का प्रश्न ही नहीं

- -

1. जीवन्मुक्त केले नामाचे गजरीं ।
   महाराष्ट्र शा॰ प्र॰ - नामदेव गाथा - अभंग - 1476
2. मुक्तपण आम्हां नको देवराया । भेटी सज पायां पुरे बापा । वही, 1511
3. [illegible] ष्यंड मुकति कहा ले कीजै, जौ पद मुकति न होई ।
   ष्यंड मुकति कहत है मुनि जन, सबद अतीत था सोई ।
   कबीर ग्रन्थावली - पद-36
4. कहै कबीर बिचारिकरि, वो पद है निरवान
   सति लै मन में राखिये जहाँ न दूजी आन । -कबीर ग्रंथावली-पद-556
5. राम मोहि तारि कहाँ लै जैहो ।
   सो बैकुण्ठ कहो धूं कैसा, करि पसाव मोहि देहो ।
   जो मेरे जीव दोइ जानत हो, तो मोहि मुकुत बताओ ।
   एकमेक रमि रह्या सबनि मैं, तौ काहेको भरमावो ।
   तारणतिरण जबै लग कहिए, जब लग तत्त न जाना ।
   एक राम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मनमाना ।।
   कबीर ग्रन्थावली - पद 52

उठता । मुक्ति को ब्रह्मकारिता की अवस्था माना है उनका मत है जीव ब्रह्मस्वरूप होकर उसी के समान सत् चित् और आनन्दरूप हो जाता है ।

इस प्रकार विदेहमुक्ति से कबीर ने भक्ति को श्रेष्ठ माना है । कबीर ने अद्वैत पर अधिक जोर दिया है अतः कौन तारेगा कौन तरेगा ? तारण तिरण दोनों एक ही है यदि इस मूलतत्व को न पहचाना तो मुक्ति का प्रश्न उठेगा । मूलतत्व तो सर्वत्र व्याप्त है अतः मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता ।

निष्कर्ष

इस विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि नामदेव और कबीर इन दोनों सन्तों की मुक्ति सम्बन्धी निश्चित धारणा थी ।

उनके जीवन का उद्देश्य भक्ति होने से दोनों ने भक्ति को मुक्ति से अधिक प्रधानता दी है । नामदेव ने भक्ति की उत्कटता के कारण मुक्ति को त्याग दिया ।

वेदान्त के अनुसार ये मुक्ति के स्थितिगत भेद जीवन्मुक्ति व विदेहमुक्ति दोनों से परिचित थे । नामदेव ने रूढ़ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग न करते हुए उस स्वरूप का स्पष्ट वर्णन किया है ।

ये दोनों कर्मयोगी भक्त थे, अतः जीवन्मुक्त साधक के रूप में उन्होंने कर्म को ब्रह्म मानते हुए कर्ममय परोपकारी जीवन व्यतीत किया । इसी कारण उनके काव्य में, जीवन्मुक्त का विशद उल्लेख प्राप्य है ।

दोनों ही विदेहमुक्ति के आकांक्षी नहीं थे अतः "पिंड परे जहाँ जाइये" ऐसी मुक्ति के प्रति विरक्ति प्रकट की है । ये भक्ति के प्रेम में, राम रस में मस्त रहते हुए सेवक स्वामी के अटूट सामीप्य के अभिलाषी है ।

इस प्रकार दोनों ने आत्मबोध को मुक्ति माना है । उनकी मुक्ति सम्बन्ध धारणा अद्वैती है ।